

"सर्व धर्म आंदोलन - हम यहां से कहां जाएं? (दि इंटरफेथ मूवमेंट - व्हेयर डू वी गो फ्रॉम हियर?)" विषय पर राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर 31 अक्टूबर, 2008 को 1600 बजे इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली में भारत के माननीय उपराष्ट्रपति श्री मो. हामिद अंसारी का अभिभाषण

आज की इस सभा में आमंत्रित करके डा. कर्ण सिंह साहब ने मुझे एक ऐसे विषय पर गहन चिंतन करने के लिए प्रेरित किया है जिसे अक्सर अहमियत नहीं दी जाती है और इसलिए उसे ठीक तरह से समझा नहीं जाता है।

यह सच है कि प्रकृति विविधताओं से भरी है। इसका एक आयाम मानव विविधता भी है, जो अन्य अभिव्यक्तियों के साथ-साथ अनुभव, आस्था और विश्वास की विभिन्न पद्धतियों के रूप में प्रकट होती है।

आस्था को किसी विचार की विश्वसनीयता में धारणा के रूप में परिभाषित किया गया है। इस धारणा का आधार भौतिक अथवा आध्यात्मिक हो सकता है। आधार चाहे जो भी हो, इससे एक तो मन में दृढ़ विश्वास पैदा होता है कि कुछ तो है, दूसरे, उस दृढ़ विश्वास से जुड़े उद्देश्यों को पूरा करने का दृढ़ संकल्प उभरता है और तीसरे, पूर्वोक्त दोनों प्राप्तियों से जुड़ी संतोष की भावना जागती है।

देश और काल के संबंध में मानव के समृद्ध अनुभव को देखते हुए, आस्था की अभिव्यक्तियाँ भी उतनी ही विविध हैं। इनमें से अधिकांश स्थितियों में प्रयास यही रहता है कि मानव अस्तित्व को संदर्भ के उस अंतिम बिंदु से

जोड़ा जाए, जो उनकी अपनी प्रकृति की आवश्यकता के द्वारा अनंत या अत्यंत अनिवार्य रूप से अस्तित्व में हैं।

इसका एक परिणाम समानता होने के साथ-साथ अवधारणाओं में भिन्नता होना है।

मानव एक सामाजिक प्राणी है और वह आम तौर पर अपने साथी मानवों के समाज में रहता है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने एक बार कहा था कि 'मानव के दुर्भाग्य को दो वर्गों में बांटा जा सकता है: वे जो मानवेतर वातावरण के कारण उत्पन्न हुए हैं और वे जो अन्य लोगों के कारण पैदा हुए हैं'; उन्होंने यह भी कहा था कि 'जो बुरा व्यवहार मानव एक-दूसरे के प्रति करता है, उसका मुख्य स्रोत विचारों या विश्वासों के बजाय अशुभ मनोभावों में होता है।

इससे कई प्रश्न उभरते हैं। समाज के संबंध में आस्था से जुड़े विचारों का प्रादुर्भाव किस तरह से होता है? समग्र सामाजिक मूल्यों के साथ आस्था के स्वतः परस्पर संवाद का परिणाम किसे माना जाता है?

सामाजिक जीवन का राजनीतिक आयाम भी होता है। राजनीतिक परिदृश्य पर धर्म के प्रभाव का अध्ययन करने वाले एक समाज विज्ञानी ने यह निष्कर्ष निकाला था कि धर्म या आस्था पर राजनीति का प्रभाव (i) धार्मिक रूप से प्रासंगिक राजनीतिक कार्य, अथवा (ii) राजनीतिक रूप से नियंत्रित धार्मिक कार्य के रूप में दृष्टिगोचर हो सकता है। इस तरह के ढांचे में, संघर्ष की संभावना अपरिहार्य रूप से पैदा हो जाती है।

इसके व्यावहारिक निहितार्थ हैं। इसका एक पक्ष राज्य से संबंधित है। रोमन साम्राज्य में धर्म के बारे में बोलते हुए एडवर्ड गिबबन ने कहा था, 'रोमन साम्राज्य में प्रचलित पूजा की विभिन्न पद्धतियां लोगों द्वारा समान रूप से सही; दार्शनिक द्वारा समान रूप से गलत और मजिस्ट्रेट द्वारा समान रूप से

उपयोगी मानी जाती थीं। और इस प्रकार, सहनशीलता से न सिर्फ परस्पर आसक्ति, अपितु धार्मिक सामंजस्य भी उत्पन्न हुआ।

भारतीय इतिहास और आधुनिक भारत के राजकीय संव्यवहार में इससे मिलते-जुलते दृष्टिकोणों के कई उदाहरण मिल जाएंगे। प्रोफेसर गुरप्रीत महाजन लिखते हैं, 'भारतीय संविधान में धर्म संबंधी मुद्दे का उल्लेख है जिसमें धर्म की स्थापना न किए जाने के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। लेकिन इसमें धर्म को राजनीति से अलग रखने की हिमायत नहीं की गई है'।

हमारे अनुभव हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं कि सभ्य समाज के संदर्भ में ऐसा दृष्टिकोण अपने आप में अपर्याप्त है। इससे संकेत मिलता है कि आस्था की विविधता से यह आवश्यक हो गया है कि समझ-बूझ के दायरों का विस्तार करने और उनमें गलतफ़हमियों को कम करने के लक्ष्य हेतु पहले से ही सक्रिय प्रयास किए जाएं। इससे संवाद और बातचीत की आवश्यकता उत्पन्न होती है क्योंकि इसे समकालीन बोलचाल की भाषा में सर्वधर्म संवाद के रूप में जाना जाता है।

सभी के आध्यात्मिक अनुभव की वैधता की स्वीकार्यता एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। दिल्ली के ही 14वीं शताब्दी के सूफ़ी संत हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया ने इस बारे में संक्षेप में इस प्रकार से कहा है :

*हर कौम रास्त रहे, दीन-ए-वा किवला गाहे*

हर आदमी को सही रास्ता, मत और पूजा का स्थान ज्ञात होता है।

अगला तर्कसंगत कदम अनुभवजन्य है जिससे हम मेलमिलाप के बिन्दुओं की पहचान कर पाते हैं। डा. कर्ण सिंह द्वारा मुझे भेजी गई एक छोटी सी पुस्तिका 'यूनिटी इन डायवर्सिटी' इसका एक अच्छा उदाहरण है।

मित्रो,

हम एक ऐसे संसार में जी रहे हैं जो जगह की कमी की वजह से सिकुड़ता जा रही है। अलगाव और गैर-मिलनसारता बीते दिनों की बातें हैं। अन्य लोगों की जानकारी न होना अब सुख की स्थिति नहीं रही है। वास्तव में, 'अन्य' अब लगातार और अपरिहार्य रूप से 'स्वयं' का हिस्सा बन चुका है। अतः, इस 'बृहत्तर स्वयं' को अपनी समझ और अपने व्यवहार में शामिल किए जाने की आवश्यकता है।

यहां सर्व धर्म आन्दोलन को अपनी भूमिका निभाने की आवश्यकता है। इसे दुनिया भर में समझा जा रहा है। वर्ष 2002 में आयोजित धार्मिक और आध्यात्मिक नेताओं के सहस्राब्दी विश्व शांति शिखर सम्मेलन में इसके आधारभूत सिद्धांतों की विवेचना की गई। इन्हें आगे बढ़ाये जाने की आवश्यकता है। शिक्षा प्रणाली में इसके मूल्यों का समावेश इसमें एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। केवल यही हमारे मन का सही ढंग से पोषण कर सकता है।

विश्वव्यापी आन्दोलन एक अच्छी बात है। तथापि, यह राष्ट्रीय प्रयासों का विकल्प नहीं है। यह हमारे अपने समाज के अलावा कहीं और अधिक प्रासंगिक नहीं है।

अमर्त्य सेन ने भारत में विवादास्पद परम्परा के लम्बे इतिहास के बारे में लिखा है और उन्होंने इसे "सतत सांस्कृतिक चर्चाओं में इसकी सापेक्षिक उपेक्षा" के रूप में प्रस्तुत किया है। मैं उनके तर्क का उल्लेख करता हूँ:

'संवाद परम्परा की समकालीन प्रासंगिकता और अपसिद्धांत की स्वीकार्यता के बारे में बढ़ा-चढ़ा कर बोलना कठिन है। चर्चाएं और वाद-विवाद प्रजातंत्र और सार्वजनिक तर्क-वितर्क के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वे धर्म-

निरपेक्षवाद के आचरण और विभिन्न धार्मिक विश्वासों के अनुयायियों के निष्पक्ष व्यवहार के केन्द्र हैं।'

सर्व धर्म संबंधी संवाद समाज के लिए महत्वपूर्ण है। इसकी सफलता इनके अनुयायियों की संख्या बढ़ाने और अनिवार्य आवश्यकता के रूप में उसकी स्वीकार्यता पर निर्भर होगी।

अन्त में, मैं सुधार और चेतावनी को जोड़ रहा हूँ। भारतीय इतिहास अपने शासकों द्वारा शुरू किए गए संवादों के उदाहरणों से भरा हुआ है। सम्राट अशोक और अकबर इनके अच्छे उदाहरण हैं। 17 वीं शताब्दी में राजकुमार दारा शिकोह ने दो प्रमुख धर्मों के सामान्य और समतत्वों को मिलाने का उल्लेखनीय प्रयास किया। परन्तु आगे यह भी कहा कि उनके कार्य में 'दोनों समुदायों में से किसी समुदाय के भी साधारण व्यक्ति के लिए कोई चिन्ता शामिल नहीं है।'

यद्यपि ऐसे संवाद को शुरू करने में बुद्धिजीवियों की भूमिका होती है, फिर भी लोकतांत्रिक राजव्यवस्था में इनकी व्यावहारिक प्रासंगिकता आम लोगों के बीच इनके प्रसार पर निर्भर होगी, जिन्हें कम-से-कम भारत में परस्पर सह अस्तित्व का कुछ अनुभव है और इसलिए, इन पर निर्भर रह सकते हैं तथा ऐसा करने के लिए सहायता दी जानी चाहिए। सहायता की यह प्रक्रिया स्कूलों से शुरू होती है, परन्तु यह तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि इसे समग्रता के रूप में समाज द्वारा आत्मसात नहीं कर लिया जाता।

मैं आपके कार्य में आपकी सफलता की कामना करता हूँ।